शिक्षक की हैसियत और शिक्षा के प्रति नजरिया

❑ रोहित धनकर

शिक्षक की हैसियत शैक्षणिक चिंता का प्रमुख केन्द्र है। मुख्यधारा शिक्षक की गंभीर समस्याएं शिक्षक केन्द्रित हैं। इस लेख में शिक्षक की हैसियत का सख्त किन्तु तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यह लेख किसी नकारात्मक अंत पर जाकर नहीं समाप्त होता बल्कि शिक्षक की हैसियत में गुणात्मक परिवर्तन के लिए एक प्रस्ताव भी पेश करता है। यह प्रस्ताव लेख के उत्तरार्द्ध में है। यह लेख जुलाई 97, में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा टीचर एंपावरमेंट एण्ड स्कूल इफेक्टिवनेस' पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय रिसर्च सेमिनार में पढ़ा गया, जो मूल रूप से अंग्रेजी में था।

1. वर्तमान परिदृश्य

हमारे यहां, देश भर में, विद्यालयी-शिक्षा की अनेक प्रणालियां हैं जो बच्चों को प्राथमिक शिक्षा प्रदान कर रही हैं। इन प्रणालियों का क्षेत्र विशिष्ट वर्ग के अत्यंत महंगे स्कूलों से खैराती स्कूलों तक और तथाकथित पब्लिक स्कूलों से ग्रामीण इलाकों के अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों तक व्यापक है। इन प्रणाालियों में मुश्किल से ही कुछ समानता है, सिवाय इसके कि ये सभी प्राथमिक शिक्षा प्रदान कर रही हैं और शायद यह भी कि बच्चे की प्रकृति और उसके सीखने के तरीकों को इनमें नजरअंदाज कर दिया जाता है। इन प्रणालियों में कार्यरत शिक्षकों के बीच भी उनके सम्मान, सामाजिक हैसियत, शैक्षणिक योग्यता, व्यावसायिक तैयारी और उन्हें मिलने वाले वेतन को लेकर भारी भिन्नता है। इसलिए प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक की स्थिति को लेकर सामान्य रूप से कुछ भी कहना जोखिम भरा काम है।

इन प्रणालियों में संख्या दृष्टि से और राष्ट्रीय शिक्षा पर प्रभाव के लिहाज से बेशक सरकारी प्राथमिक विद्यालय प्रणाली सबसे बड़ा तंत्र है। यह एक प्रकार से प्राथमिक शिक्षा की केन्द्रीय प्रणाली है। दूसरी अन्य प्रणालियां या तो इस प्रणाली के प्रति असंतोष से जनम्मी हैं अथव इसकी अनुपलब्धता के कारण अस्तित्व में आयी हैं। इस लेख में, मैं खुद को केवल सरकारी प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों की स्थिति पर विचार करने तक सीमित रखूंगा। हालांकि जो मैं यहां सरकारी प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों के बारे में कह रहा हूं, वह अन्य दूसरी प्रणालियों के शिक्षकों पर भी काफी हद तक हो सकता है । लेकिन मेरे लेख का सरोकार प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों से है न कि अन्य प्रणालियों में कार्यरत शिक्षकों से।

शुरु में ही मुझे कह देना चाहिए कि मेरे अवलोकन और विश्लेषण राजस्थान में सरकारी स्कूलों के प्रत्यक्ष अनुभवों और प्राथमिक शिक्षा में कार्यरत शिक्षकों और अन्य लोगों की एक बड़ी संख्या से अन्तर्क्रिया पर आधारित है, जो मुख्यत: हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के हैं। किसी राष्ट्रव्यापी अध्ययन अथवा गंभीर अनुसंधान का दावा यहां नहीं किया जा रहा ।

अब हम मुद्दे पर आते हैं। मुझे लगाताहै कि शिक्षकों को एक साथ 'पीडित और दोषी' दोनों के रूप में देखा जा सकता है। सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों (जिसमें आर्थिक स्थितियां भी शामिल हैं) और तंत्र की व्यापक उदासीनता से 'पीड़ित' और कार्य-विमुखता, उपेक्षा तथा निहित स्वार्थों के कारण राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा को नष्ट करने के 'दोषी' शिक्षक की इन दोनों छवियों-पीडित और दोषी-में सत्य के काफी अंश विद्यमान है ।

विद्यालय में विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र के विद्यालयों में, शिक्षकों द्वारा बच्चों को पढ़ाने में उनकी निराशाजनक भूमिका का आरोप जब शिक्षक पर लगाया जाता है तो अपनी सफाई

में सामान्यत: शिक्षक द्वारा जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं, वे हैं (1) अन्य सरकारी विभागों का काम भी तो निराशा जनक है। और (2) विद्यालय में सीखने-सिखाने की सामग्री व भवन की खस्ताहाल स्थिति, तंत्र का उदासीन और अनुत्तरदायी व्यवहार, शिक्षकों के अनुपात में बच्चों की भारी संख्या और संसाधनों का अभाव इत्यादि। शिक्षक द्वारा समुदाय पर भी यह आरोप लगाया जाता है कि वे अपने बच्चों की पढ़ाई में दिलचस्पी नहीं लेते (यह तर्क स्वयं शिक्षक की मानसिकता की ओर संकेत करता है क्योंकि वह स्वयं भी वैसे ही या उसी समुदाय का सदस्य है)। अपने बचाव में वह 'शिक्षक' की एक ऐसे अल्प वेतन भोगी के रूप में तस्वीर पेश करेगा जिसे सरकार द्वारा एक सौ एक ऐसे कार्यों में जोता जाता है जिनका बच्चों की पढ़ाई से कोई ताल्लुक नहीं है। यथा कुछ समय पहले तक उन्हें परिवार नियोजन के केस लाने पड़ते थे और आजकल साक्षरता अभियानों में भागीदारी करनी पड़ रही है, इत्यादि। निश्चय ही उसके कई तर्क समझ में आते हैं। लेकिन तब भी, यह विवरण शिक्षकों की चिंतनीय अनुपस्थिति, स्कूल में शिक्षण के प्रति कुल जमा लापरवाही और स्थानान्तरण के लिए होने वाली मारामारी के औचित्य को स्थापित नहीं कर पाता। यही नहीं, सैंकड़ो स्कूल ऐसे हैं जहां भवनों की पर्याप्त सुविधा है, बच्चों के मां-बाप उनकी पढ़ाई लिखाई में दिलचस्पी रखते हैं तथा उनके लिए पुस्तकें व शिक्षण-सामग्री खरीदने के इच्छुक रहते हैं। कुछ जगह शिक्षक-छात्र अनुपात भी 1:30 के आसपास है।लेकिन तब भी शिक्षक पूर्णत: उदासीन है और अपने काम को गंभीरता से नहीं लेता, तो यह सब हमें कहां ले जाता है ? ठीक वहीं, जैसा कि मैंने शुरू में कहा, दोनों पूर्व-कथित पक्ष एक साथ सत्य हैं। गंभीर सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण यही तथ्य प्रकअ करेगा कि न केवल शिक्षक बल्कि हम सब एक साथ पीड़ित और इस त्रासदी के खलनायक दोनों हैं। केवल बच्चे ही वे पात्र हैं जो पीड़ित तो हैं लेकिन खलनायक नहीं।

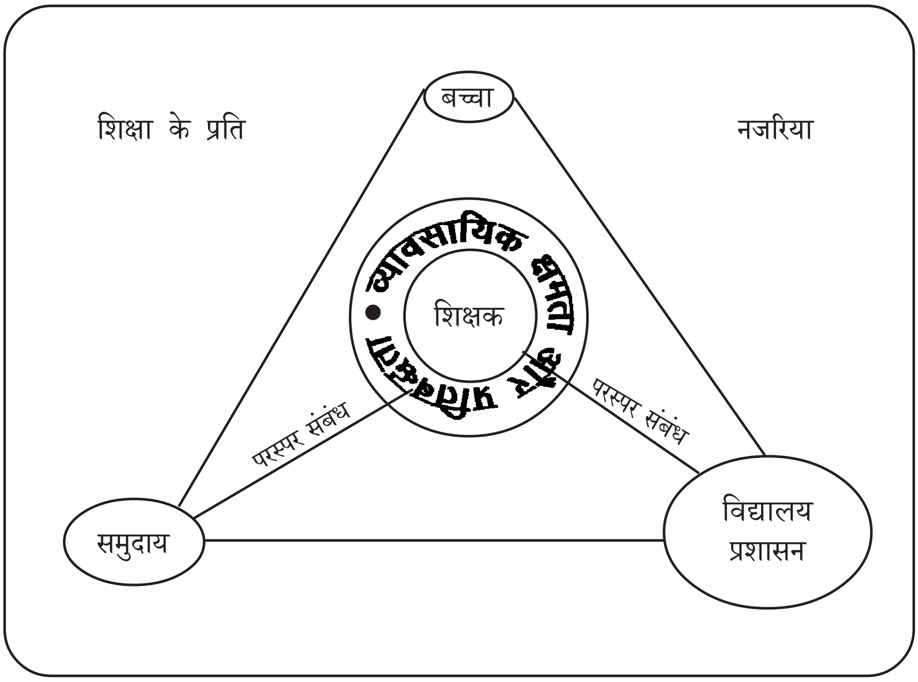
लेकिन हमें इस विवरण से ही संतुष्ट नहीं रह जाना है। वैसे भी यह तस्वीर इतनी उलझी-पुलझी है कि इससे कोई मदद नहीं मिलती।

यदि हम स्कूल की बेहतरी के लिए शिक्षक की स्थिति को समझना चाहते हैं तो हमें परिदृश्य के एक छोटे हिस्से पर गहरायी से नजर डालनी होगी। मेरा सुझाव है किहम शिक्षक की सिंति को समझें । यहां 'स्थिति' शब्द का उपयोग मैं कुछ सीमित अर्थ में कर रहा हूँ। शिक्षक की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का समग्र आंकलन मेरा अभिप्राय नहीं है। इस लिहाज से शिक्षक विभिन्न सामाजिक समूहों से संबंद्ध है। और में सोचता हूं कि उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति के विश्लेषण का मौजूदा संदर्भ में कोई उपयोग भी नहीं है। हमारा मकसद तो यहां स्कूलों की भूमिका की बेहतरी पर विचार करना है। 'स्थिति' से यहां मेरा अभिप्राय एक व्यावसायिक समूह के सदस्य के नाते शिक्षक की स्थिति से है । व्यावसायिक समूह से आशय काम करने वालों के ऐसे समूह से है जिसे समाज द्वारा ए निश्चित दायित्व वौंपा गयाहै ओर जिसका अस्तित्व उस दायित्व विशेष के निर्वाह की समाज की आवश्यकता पर निर्भर है। यह विशेषता शिक्षकों के समूह को 'गरीबों' महिलाओं तथा अन्य पिछड़े वर्गों जैसे सामाजिक समूहों से अलग कर देती है। इन सामाजिक समूहों के कोई ऐसे विशिष्ट दायित्व अथवा कर्तव्य नहीं जो समाज द्वारा इन्हें सौंपे गये हों, सिवाय उन दायित्व व कर्तव्यों के जो अन्य सब नागरिकों को निभाने होते हैं। लेकिन एक 'व्यावसायिक समूह के लिए प्रदत्त दायित्व का निर्वाह करना एक विशेष कर्तव्य है। शिक्षकों के संदर्भ में यह प्रदत्त दायित्व बच्चों को को पढ़ाना, उन्हें शिक्षित करना है। यह दायित्व ही एक पृथक समूह के रूप में शिक्षकों के अस्तित्व को परिभाषित करता है और इसको औचित्य प्रदान करता है। यदि वे अपने दायित्व का निर्वहन करने में असफल रहते हैं या समाज अपने को इस तरह संगठित करता है जिसमें इस दायित्व (पढ़ाना/शिक्षित करना) के निर्वाह की जरूरत ही नहीं रहे तो शिक्षक क पृथक समूह के रूप में अपने अस्तित्व का औचित्य खो देंगे।

इस अर्थ में शिक्षकों की स्थिति का अध्ययन/विश्लेषण करने के लिए शायद एक से अधिक खाके हो सकते हैं। मैं यहां एक खाका प्रस्तुत कर रहा हूँ, जो इस लेख के उद्देश्य के लिहाज से मुझे खासतौर से उपयुक्त लग रहा है।

शिक्षकों ने उन्हें प्रदत्त कार्य की प्रकृति के अनुरूप बच्चों से एक विशिष्ट संबंध रखना होता है और बच्चों के प्रति उनकी विशिष्ट जिम्मेदारी होती है। समुदाय के सदस्य के रूप में माता-पिता और अभिभावकों का अपने बच्चों की शिक्षा से गहरा नाता है । तब शिक्षकों की समुदाय के प्रति भी उतनी ही जिम्मेदारी बनती है। तीसरे, शिक्षकों को एक प्रदत्त ढांचे में काम करना होता है जो विद्यालय प्रशासन द्वारा संचालित और नियंत्रित होता है। इस तरह विद्यालय प्रशासन द्वारा संचालित और नियंत्रित होता है। इस तरह विद्यालय प्रशाासन से शिक्षक के संबं शिक्षक के खुद के काम करने समेत इस समूचे तंत्र की एक महत्वपूर्ण धुरी है। शिक्षकों का एक व्यवसायिक समूह

मानने के बाद बच्चों, समुदाय और विद्यालय प्रशासन से उनके संबंधों को देखा जाना चाहिए और उनके प्रदत्त कार्य : पढ़ाने, शिक्षित करने की प्रकृति के अनुरूप समझते हुए कार्य-विधि को निरुपित किया जाना चाहिये। नतीजतन, शिक्षक की व्यावसायिक क्षमताएं और व्यावसायिक प्रतिबद्धता, जो खाका हम तैयार कर रहे हैं उसका चौथा महत्त्वपूर्ण पहलू हो जाती है। लकिन इस चौथे पहलू की प्रकृति शुरू के तीन पहलुओं जैसी नहीं है शुरू के तीन पहलुओं को व्यक्तियों के बीच संबंधों के रूप में समझा जा सकता है। जबकी चौथा पहलू जो शिक्षक की क्षमताओं से संबंधित है, इन संबंधों का का नियामक एवं निर्धारक होना चाहिए। शिक्षा का दर्शन अथवा सांझी समझ वह धरातल प्रस्तुत करती है जिस पर ये सारे संबंध बनते हैं। संबंधों



का स्वरूप और वांछित्त क्षमताओं के लिए मूलभूत संदर्भ बिन्दु भी शिक्षा दृष्टि से ही निर्धारित होते हैं। इस खाके को इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है:

आगे के विश्लेषण में इस खाके के उपयोग करने के पहले कुछ स्पष्टीकरण दे देना जरुरी है। यह खााका निराशााजनक रूप से शिक्षक-केन्द्रित नजर आता है। लेकिन जब हम शिक्षकों की स्थिति समझने में दिलचस्पी रखते हैं तो शायद वे केन्द्र में स्थान पाने के स्वाभाविक पात्र हैं : दूसरे हमारे खाके के त्रिकोण में बच्चा और समुदाय दो कोणों पर रखे गये हैं लेकिन वास्तव में बच्चा समुदा य का अभिन्न अंग है। यह एक असंगति लग सकती है। लेकिन ऐसा जान बूझकर किया गया है, क्योंकि हम शिक्षक और बच्चे के संबंधों को स्वतंत्र और शिक्षक की स्थिति के एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में देखना समझना चाहते हैं न कि शिक्षक और समुदाय मध्य संबंध के द्वितीय अंग के तौर पर देखा जा सकता है। लेकिन हम यहां जिस तरह से शिक्षक पर विचार कर रहे हैं उसमें विद्यालय प्रशासन से मतलब है- शिक्षक को छोड़कर बाकी समूचा शिक्षा तंत्र। चौथे, समुदाय बच्चा और प्रशासन परस्पर अन्तर्सम्बंधित हैं और इन अन्तर्संबधों का विद्यालय की गतिविधि और शिक्षक से इनके संबंध पर असर पड़ता है। संबंधों के इस ताने बाने के विस्तृत विवरण पर एक पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है किन्तु यहां हम इनका केवल सीमित उपयोग करेंगे।

मेरे विचार से शिक्षक के बच्चे, समुदाय और विद्यालय प्रशासन से पारस्परिक संबंधों के मद्देनजर शिक्षक की स्थिति का आकलन में इस खाके का उपयोग किया जा सकता है। शिक्षक की व्यवसायिक क्षमता और प्रतिबद्धता पर उपयुक्त तार्किक टिप्पणी इसके साथ की जानी चाहिए। आगे में यही करने जा रहा हूं।

विद्यालय वे जगह हैं जिनके बारे में माना जाता है कि वहां बच्चों को पढ़ाया और शिक्षित किया जाता है। यह मान्यता काफी आम है कि बिना बच्चों को नियंत्रित किये उन्हें पढ़ाना और शिक्षित करना असंभव है। अत: बच्चों को नियंत्रित करने की क्षमता शिक्षक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षमताओं में एक मानी जाती है। विद्यालय में बच्चों पर नियंत्रण रखने के लिए शिक्षक को अबाध अधिकार दिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि ब्चों से मित्रता बच्चों कोनिर्भय कर देगी, इससे बच्चों पर नियंत्रित करने के लिए शिखकक के प्रभाव और क्षमता कमेंकमी आयेगी और विद्यालय का अनुशासन भंग हो जायेगा और अनुशासन जैसा कि हम सब जानते ही हैं अत्यंत महत्वपूर्ण चीज है और अपने आप में एक मूल्य है। इस और ऐसे ही दूसरे विचारों ने यह स्थिति पैदा कर दी है जिसमें विद्यालय के अंदर बच्चे के ऊपर शिक्षक की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गयी है। शिक्षक भय और दण्ड द्वारा बच्चे के ऊपर शिक्षक की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गयी है । शिक्षाक भय और दण्ड द्वारा बच्चे के

व्यवहार को नियंत्रित रखता है ओर बच्चों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे उसके किसी निर्णय पर अंगुली नहीं उठायें। यह माना जाता है कि बच्चों को बिना कोई सवाल या स्पष्टीकरण पूछे चुपचाप आज्ञा पालन करना चाहिए। शिक्षक विद्यालय में बच्चे और उसके व्यवहार का ही नियंता नहीं है बल्कि ज्ञान, मूल्यों और सीखने की गति के मामले में भी उसकी सत्ता सर्वोपरि है। उसके ज्ञान और निर्णय पर सवाल नहीं उठाये जा सकते। इस तरह हम शिक्षक और बच्चों के संबंध को यूं देख सकते हैं कि एक और तो शिक्षक मूल्य और ज्ञान तथा बच्चों के व्यवहार का प्राधिकारी है, दूसरी ओर बच्चों को चुपचाप बिना कोई सवाल उठाये उसका आज्ञापालन करते रहना है और वह जो कुछ भी करने को कहे, उसे पूरी तरह स्वीकार करना है। यह असमान संबंध भय, दण्ड और कभी कभार प्रदत्त पुरस्कारों के जरिये कायम रखा जाता है।

संबंधों का यह स्वरूप विद्यालय तंत्र की ही तरह समुदाय द्वारा स्वीकृत है। हालांकि यदा-कदा एक भिन्न किस्म के संबंध की कोरी बात की जाती है जिसमें प्यार, सुरक्षा, खुलापन और भय से मुक्ति शिक्षक ओर बच्चे के संबंधों का आधार हो।

अब हम मुद्दे पर आते हैं। मुझे लगाताहै कि शिक्षकों को एक साथ 'पीडित और दोषी' दोनों के रूप में देखा जा सकता है। सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों (जिसमें आर्थिक स्थितियां भी शामिल हैं) और तंत्र की व्यापक उदासीनता से 'पीड़ित' और कार्य-विमुखता, उपेक्षा तथा निहित स्वार्थों के कारण राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा को नष्ट करने के 'दोषी' शिक्षक की इन दोनों छवियों-पीडित और दोषी-में सत्य के काफी अंश विद्यमान है।

समुदाय इसे सहता आ रहा है और स्कूल के मामले में वह ज्यादातर शक्तिहीन है तथा कुछ नहीं करता, जबकि इधर समुदाय के नियंत्रण की बातें काफी होने लगी हैं। शिक्षक विद्यालय के प्रति अगंभीर और लगातार अनियमित रह सकता है और रहता है तथा समुदाय की आंखों में धूल झोंकता है। विद्यालय में क्या पढ़ाया जाये और कैसे पढ़ाया जाये इस पर समुदाय कुछ नहीं कह सकता। शिक्षक और विद्यालय प्रशासन की जबावदेही तय करने के लिए समुदाय में शिक्षा की कोई समझ नहीं है। लेकिन यहां यह ध्यान रखना पड़ेगा कि अपने वास्तविक रूप में कोई समुदाय एकाश्म नहीं है समुदाय का एक छोटा-सा तबका राजनीतिक सत्ता रखता है, उसकी सामाजिक हैसियत है तथा यह आर्थिक रूप से संपन्न है। शह अल्पसंख्यक वर्ग विद्यालय केमामले में बोल सकता है और शिक्षकों के स्थानान्तरण की मांग कर सकता है। बहुसंख्य शिक्षक भी शायद इसी वर्ग से आते हैं। समुदाय के इस तबके के बच्चे बड़े गांव और छोटे कस्बों में लगातार सरकारी विद्यालयों की जगह निजी विद्यालयों में भर्ती होते जा रहे हैं, इस तरह समुदाय के जिस व्यापक हिस्से के समक्ष एक मात्र सरकारी प्राथमिक विद्यालय का ही विकल्प है, वे स्कूल के बारे में कुछ बोलते नहीं और समुदाय का असंतोष उठने पर शिक्षक के विरुद्ध कोई दण्डात्मक कार्यवाही हो-ऐसा भी नहीं होता है।

शिक्षक और विद्यालय प्रशासन तंत्र के बीच का संबंध भी बहुत जटिल है। पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकों, विद्यालय-समय, विद्यालय की छुट्टियों, प्रमाण-पत्र और मूल्यांकन-पद्धति के संदर्भ में शिक्षक को कोई स्वतंत्रता नहीं है। इसी तरह, परीक्षा-प्रणाली केन्द्रीय स्तर पर नियंत्रित है और शिक्षण-पद्धति परीक्षाा प्रणाली द्वारा निर्दिष्ट होती है और यहां भी शिक्षक को कोई स्वतंत्रता नहीं है। सीखने सिखाने की सामग्री उपकर या गतिवधियों आदि केलिए खर्च जैसे संसाधनों के मामले में शिक्षक मुश्किल से ही कुछ कर सकता है। दूसरी तरफ विद्यालय में शिक्षकों की नियमित उपस्थिति को सुनिश्चित करने के मामले में प्रशासन असफल रहा है। शिक्षक राजनेताओं और उनके दलालों के मार्फत अपनी मनचाही जगह पदस्थापन कराने का आसानी से जोड़-तोड़ बिठा लेते हैं; जहां से उनका घर पास हो या आवागमन के बेहतर साधन उपलब्ध हो सकते हों। इस स्थिति के चलते ऐसे स्कूलों में जहां पहुंचना कठिन होता है, पदस्थापन को सजा के तौर पर लिया जाता है। यही नहीं अपनी पंसदीदा जगह पदस्थापन होने के बावजूद शिक्षण-कार्य को गंभीरता से नहीं लिया जाता। चूंकि (इस लिहाज से) प्रशासन पूर्ण शक्तिहीन है इसलिए शिक्षक किसी भी तरह के शैक्षणिक सुधार को अवरुद्ध कर देने की स्थिति में है। यह कहना निंदा जैसा लगेगा लेकिन मुझे यह सत्य लगता है कि बच्चों की शिक्षा बर्बाद करने के लिए शिक्षक को आघोषित रूप से पूरी छूट है। दूसरी तरफ वे ऐसा कुछ करने में पूरी तरह अक्षम हैं जिससे स्कूल की भूमिका बेहतर होती हो। इसी तरह विद्यालय प्रशासन शिक्षा

प्रक्रिया को दमघोंटू बनाने और ठप्प करने के लिए तो सर्वशक्तिमान है किन्तु जब शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार की बात उठती है तो वह पूरी तरह से शक्तिहीन है।

व्यावसायिक क्षमताओं और प्रतिबद्धता का बच्चे और समुदाय और यहां तक कि विद्यालय प्रशासन के साथ; शिक्षक के संबंधों पर गहरा असर पड़ता है। वास्तव में इनमें से कुछ संबंध विशेष रूप से बच्चे व समुदाय से संबंधों को , शिक्षकों की बेहतर व्यावसायिक तैयारी के जरिये सुधाारा जा सकता है, भले ही जब तक अन्य परिस्थितियां बड़े रूप में अपरिवर्तित रहें। वर्तमान में ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश शिक्षक अपने काम को अंजाम देने की योग्यतायें नहीं रखते। उनका शिक्षा दर्शन पढ़ना-लिखना सिखाने और रोजगार बाजार से शायद ही परे जाता हो । शिक्षा और समुदाय के बीच संबंध को कोई अहमियत नहीं दी जाती। 'ज्ञान' की अवधारणा की व्याख्या संकुचित सूचना-केन्द्रित परिप्रेक्ष्य में की जाती है और जो पढ़ाया जा रहा है उसमें तथाा बच्चेकी जिंदगी में कोई रिश्ता नहीं बन पाता । सीखने को यांत्रिक रूप से रटाई से अलग देख पाना शिक्षकों को बहुत मुश्किल लगता है।

परिणामत: किताबों को रटने व शिक्षक को सुनने के अलावा दूसरी प्रत्येक गतिविधि को समय की बर्बादी माना जाता है। बच्चे की प्रकृति और रुचियों को सामान्यत: सीखने ओर शिक्षा के प्रतिकूल माना जाता है। भय, प्रतिस्पर्धा और प्रश्नविहिन आज्ञाकारिता नींव के वे प्रस्तर माने गये हैं जिन पर शिक्षा की यह भव्य इमारत खड़ी है। पाठ्यक्रम विमर्श और सामग्री निर्माण में शिक्षक की भागीदारी को पहले से चले आ रहे ढर्रे के पूर्ण समर्थन अथवा विशेषज्ञों से पूर्ण सहमति तक सीमित कर दिया गया है। यहां अधिकारियों एवं विशेषज्ञों के समक्ष-शिक्षकों की वही स्थिति है जो कि शिक्षकों के साथ बच्चों की है । अर्थात शिक्षकों अर्थात शिक्षकों से अधिकारियों एवं विशेषज्ञों के साथ हर बात में सहमति की अपेक्षा है। वास्तव में जो शिक्षण विधि स्कूलों में प्रयुक्त होती है, (वह नहीं जिसकी हम कार्यशालाओं में चर्चा करते हैं) बहुत रूखी, शिक्षक केन्द्रित और शिक्षक की गति के अनुसार संचालित है जो व्यापक रूप में रटने की पृष्टि करती है। उच्च आदर्शों के लिए प्रतिबद्धता, शिक्षा में उत्कृष्टता और व्यावसायिक गरिमा का कोई अस्तित्व नहीं है। व्यावसायिक क्षमताओं के विकास को लेकर न तो शिक्षा-तंत्र द्वारा कोई अवसर शिक्षकों को उपलब्ध कराये जाते हैं और न ही शिक्षकों की इसमें कोई रुचि है।

सारत: हम कह सकते हैं कि

- बच्चों के मामले में शिक्षक सर्वसत्तामान है।
- समुदाय से शिक्षको का कोई सरोकार नहीं है और समुदाय के असंतोष से वे पूरी तरह सुरक्षित है। विद्यालय क गतिविधि को प्रभावित करने केलिहाज से समुदाय पूर्णत: शक्ति हीन है।
- शिक्षक वहां विद्यालय प्रशासन की पकड़ के परे है जहां उनकी शक्ति के उपयोग पर अंकुश होना चाहिए (शिक्षा के हित में) लेकिन उन मामलों में शिक्षक पूरी तरह दबा है जिनमें उन्हें स्वायत्त और स्वतंत्रहोना चाहिए।
- व्यावसायिक तैयारी अपर्याप्त है और प्रतिबद्धता तथा व्यावसायिक गरिमा का अस्तित्व नहीं है।
- प्रतिबद्धता और व्यावसायिक क्षमताओं के विकास के लिए कोई अवसर उपलब्ध नहीं है।

मुझे मालूम है यह विवरण एक निराशाजनक तस्वीर प्रस्तुत करता है। बहुतों को यह अनुचित लग सकती है। लेकिन किसी भी स्थिति में सुधार के गंभीर प्रयास के लिए जरूरी है कि समस्या से सीधे आंख मिलायी जाये और मौजूद वास्तविकता को जैसी भी वह है पहचाना जाये।

जिन संबंधों का पहले जिक्र किया गया, वे परिदृश्य का केवल एक हिस्सा हैं। फिर भी एक महत्त्पूर्ण हिस्सा हैं। यह तो स्वयंसिद्ध ही है कि विद्यालय प्रणाली की प्रभाविता बहुत से कारको पर निर्भर होती है और इसे सुधारने के लिए विभिन्न दिशाओं में अनेक तरह के प्रयास करने होंगे। उदाहरण के लिए समुदाय का सशक्तिकरण और इसकी सक्रियता, एक ज्यादा कारगर और विवेक संगत विद्यालय पृशासन, संसाधनों की बेहतर उपलब्धता - सभी बहुत जरूरी हैं। इन्हीं प्रयासों के आगे-पीछे शिक्षकों की व्यावसायिक तैयारी, अकादमिक सहायता प्रणाली और शिक्षकों की स्वायत्तता में सुधार भी जरूरी है इन आखिरी तीन क्षेत्रों में सुधार ऊपर चित्रित स्थिति पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालेगा।

2. इस निराशाजनक स्थिति से निकलने का संभावित रास्ता

ऐसा प्रतित होता है कि हमारे प्राथमिक विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार की आवश्यकता को

आखिरकार देश में महसूस किया जा रहा है। स्कूलों को सशक्त बनाने के प्रति भी सरोकार है ताकि स्कूल उन बच्चों तक पहुंच बना सके जो अभी तक इस प्रणाली से बाहर छूटे हुए हैं।

इस दिशा में होने वाले ज्यादातर प्रयासों का जोर-पढ़ाने के कौशल, (यदि मुझे इस शब्द-बंध का प्रयोग करने दें) और तथाकथित 'दृष्टिकोण परिवर्तन' पर रहता है। दृष्टिकोणगत परिवर्तन के के कार्यक्रमों को पुरानी धारणा कि 'शिक्षा गुरुजी के डंडे से आती है' की जगह 'शिक्षा मजे और मनोरंजन से आती है' की अवधारणा को विस्थापित करने के प्रयासों के रूप में वर्णित किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि पहले 'शिक्षा की कड़वी गोली' अनिच्छुक बच्चे को जबरन निगलवायी जाती थी, उसकी जगह अब कड़वी गोली पर चीनी लपेट दी गई है। लेकिन कड़वी गोली अभी भी कड़वी गोली ही है। जिसे मैंने पढ़ाने के कौशल को सुधारने के कार्यक्रमों के रूप में उल्लेखित किया। वह विषयवस्तु को प्रस्तुत करने के तरीके मात्र हैं और इन तरीकों में सामान्यत: यांत्रिक तरीके से की जाने वाली गतिविधियों की एक शृंखला होती है। मेरा मानना है कि इन परिवर्तनों का न तो कोई नतीजा निकला है और न ही निकल का है। ये परिवर्तन शिक्षा और सीखने की प्रकृति को ध्यान में रखते हैं। मैं आगे यह दिखाने की कोशिश करुंगा कि इस तंत्र की बहुत-सी बीमारियां तो शिक्षा के प्रति हमारे नजरिये में ही अन्तर्निहित हैं। और हम इस नजरिये पर सवाल करने से अक्सर कतराते हैं।

इस दिशा में होने वाले ज्यादातर प्रयासों का जोर-पढ़ाने के कौशल, (यदि मुझे इस शब्द-बंध का प्रयोग करने दें) और तथाकथित 'दृष्टिकोण परिवर्तन' पर रहता है। दृष्टिकोणगत परिवर्तन के के कार्यक्रमों को पुरानी धारणा कि 'शिक्षा गुरुजी के डंडे से आती है' की जगह 'शिक्षा मजे और मनोरंजन से आती है' की अवधारणा को विस्थापित करने के प्रयासों के रूप में वर्णित किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि पहले 'शिक्षा की कड़वी गोली' अनिच्छुक बच्चे को जबरन निगलवायी जाती थी, उसकी जगह अब कड़वी गोली पर चीनी लपेट दी गई है। लेकिन कड़वी गोली अभी भी कड़वी गोली ही है।

हमारे नीति-नियंता और शिक्षा के पण्डित शिक्षा को पहले से तयशुदा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को संभव बनाने के लिए एक माध्यम के रूप ममें ही देखते रहे हैं। यह सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मौजूदा सत्ता-संबंधों की यथास्थिति को बनाये रखने के लिए निर्धारित की गई है। इस व्यवस्था में निर्धन ग्रामीण तबके को, (वास्तव में सभी साधनहीन लोगों को) ऐसे राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पसीना बहा रहे हैं जो सत्ताशील लोगों ने निर्धारित किये हैं। सामान्य जनता से अपेक्षा की जाती है कि वह इस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में एकमात्र आर्थिक रूप से योगदान कर इन लक्ष्यों को पूरा करने में अपनी भूमिका निभाये और अपने को धन्य समझे। साधारण जनता से यह अपेक्षा नहीं की जाती ंकि वह सत्ता में प्रभुत्व को लेकर सवाल उठाये अवि लक्ष्यों को पुर्नपरिभाषित करे इन लक्ष्यों को बिना कोई सवाल उठाये स्वीकार करने और इन्हें अर्जित करने हेतु परिश्रम करने के बदले सामान्य जनता को आर्थिक समृद्धि और प्रगति के ख्वाब दिखाये जाते हैं, जो कि सड़कों की लम्बाई, बिजली के खभों की संख्या, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और उपभोक्ता सूचकांक के आधार पर परिभाषित की जाती है और इसी आधार पर मापी जाती है।

शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों पर लम्बी चौड़ी चर्चा के विपरीत जो कुछ पिछले पचास सालों से शिक्षा के नाम पर विद्यालयों में क्रियान्वित हो रहा है, वह लोगों को इस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को आत्मसात करने और उसे बनाये रखने के लिए तैयार करने का काम है। सका नतीजा है कि शिक्षा का विचार नारों में ढ़ाले गये मूल्यों (उदाहरण के लिए, पाठ्यपुस्तकों के पिदले आवरण पर दी गई प्रतिज्ञा, अस्पृश्यता पाप है इत्यादि; विभिन्नता में एकता आदि) ओर घिसीपिटी सूचनाओं (उदाहरण, रसायनिक खादों से उपज बढ़ती है, बड़े बांध आधुनिक मंदिर हैं, बढ़ती हुई जनसंख्या सारी समस्याओं की जड़ है) के इर्द-गिर्द घूमता रहा है।

इन नारों मताग्रहपूर्ण सूचनाओं और समाज के सरकारी नजरिये को लोगों पर थोपने के लिए पढ़ना लिखना और थोड़ी अंकगणित सिखा देना पर्याप्त है।

राष्ट्र निर्माता और योजनाकारों द्वारा पहले ही सामाजिक आर्थिक व्यवस्था की महान योयजना तेयार कर ली गई है। अत: इस विषय पर कभी किसी और ने सोचने की जरूरत ही नहीं महसूस की और इस प्रकार जहां तक प्राथमिक शिक्षा का सरोकार है, वांछित समाज पर सोचने का अध्याय ही विधिवत् बन्द कर दिया गया।

इसलिए प्राथमिक शिक्षा पर योजना का काम बहुत आसान हो गया। शिक्षाक्रम (बेहतर हो हम इसे पाठ्य-विवरण कहें) चुनिंदा नारों, चयनित सूचनाओं और पढ़ने, लिखने तथा अंकगणित के कौशलों की एक क्रमिक शृंखला का संयोजन भर बन गया है। यह संयोजन मुख्यत: पाठ्यपुस्तकों के लेखन के लिए प्रयुक्त होता है जिनमेंसामग्री पुन: एक नीरस क्रमिक संरचना में प्रस्तुत की जाती है और इसे बाद सभी इस पाठ्यविवरण को भी भुला देते हैं, केवल पाठ्यपुस्तक रह जाती है। शिक्षक को तो शिक्षाक्रम जैसी किसी चीज का पता ाी नहीं होता। किताबो में दियेवेद वाक्य इस प्रकार की शिक्षा मेंउनकी आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त हैं। शिक्षण भी एक सरल प्रक्रिया बन गया - शुरू में वर्णमाला और गिनती पहाड़ोंकी कसरत और उसके बाद बच्चों की भक्त-मण्डली के सामने पाठ्यपुस्तकों के वेद-वाक्यों का बारंबार पाठ। बस, हो गया शिक्षण।

इस प्रणाली में एक शिक्षक के काम की तुलना एक राजगीर से की जाती है। लेकिन इस तंत्र में वास्तुकार द्वारा तैयार की गई इमारत की योजना पर विचार करने और उसकी उपयुक्तता पर सवाल करने की छूट राजगीर को नहीं है। इसके लिए नक्शे को पढ़ लेना ही काफी नहीं है। इसके लिए नक्शे को पढ़ लेना ही काफी समझा गया है, जिसके अनुरूप वह इसकी निष्ठापूर्वक प्रतिकृति निर्मित करे। शिक्षक के लिए उतना भर करना ही पर्याप्त है जितना पुस्तक में निर्देशित किया गया है और यह पुस्तक में निर्दिष्ट तरीकों के अनुसार ही करना है। शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम भी उन्हें सिर्फ इतना ही करने की अपेक्षा रखता है अधिक नहीं । लेकिन हमारे राजगीर (शिक्षक) दूसरे सच्चे राजगीरों की तुलना में दयनीय रूप से असफल रहे हैं। यदि दिये गये नक्शे के मुताबिक निष्ठापूर्वक कोई राजगीर प्रतिकृति खड़ी करने में असफल रहता है तो क्या किया जाता है ? बेशक, सिद्धांत रूप में अनेक रास्ते खुले हैं। आप कोई दूसरा राजगीर बुला सकते हैं; पहले से नियुक्त राजगीर को नक्शे को ठीक से बांचने और निमार्ण कला में प्रशिक्षण दिला सकते हैं, एक पर्यवेक्षक नियुक्त कर सकते हैं या अधिक विस्तृत नक्शे और निर्माण-निर्देशिकायें तैयार करा सकते हैं। प्राथमिक शिक्षा में व्यावहारिक कारणों से हम नये शिक्षक (पुराने के स्थान पर) नहीं ले सकते । हम कोई गंभीर दीर्घकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम भी नहीं चला सकते। यही कारण है कि हम बच्चे के संज्ञानात्मक विकास के और विस्तृत एवं सूख्म नक्शे तैयार करते हैं। व्यवहार में हम इस (संज्ञानात्मक विकास) अपने मौलिक रूप में जीवंत प्रक्रिया को निर्जीव कर देते हैं और यह महज दक्षताओं के खंडित विवरण की शृंखला मात्र रह जाती है। जिसे कृष्ण कुमार मणि मधुकर की एक कविता की पंक्ति की तर्ज पर ''खण्ड-खण्ड पाखण्ड पर्व'' कहते हैं।

यदि हमारे पाठ्यक्रम में बच्चे के संज्ञानात्मक विकास की बेहतर सन्निकटता प्राप्त करने का लक्ष्य होता तो क्या हम इस प्रक्रिया को सर्वांगीण रूप में नहीं देखते ? लेकिन इसकी जगह हम शिक्षक के लिए ज्यादा विस्तृत यांत्रिक निर्देशों पर जोर देते हैं। इसके बाद हम जो पाठ्यपुस्तकें लिख रहे हैं, इसके हर पृष्ठ पर दक्षता मानचित्र दिया हुआ होता है जो राजगीर की निर्देशिका के ज्यादा समरूप है और तब हम यह उम्मीद करते हैं कि कोई भी जो पढ़ सकता है और निर्देशों का पालन कर सकता है वह पढ़ाने में समर्थ है जो कि हम पढ़वाना चाहते है।, भले ही उसकी कोई शिक्षा-दृष्टि न हो और मनुष्य की सीखने की प्रक्रिया की उसे कोई समझ नहीं हो । तकनीकों पर सबसे ज्यादा जोर है लेकिन तकनीकों के जरिये क्या हासिल होगा? हम वह क्यों हासिल करना चाहते हैं ? इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता । परिणामस्वरूप परिणामस्वरूप हमारी चिंता ऐसी अधिक से अधिक सामग्री तैयार करने की है कि जिससे शिक्षक के हर कदम को और विद्यालय में उसके द्वारा बोले जाने वाले प्रत्येक शब्द को नियंत्रित किया जा सके।

लेकिन इस अभियान में हम कभी सफल नहीं हो सकते। असफलता के बीज इस योजना में ही अन्तर्निहित हैं। शिक्षा अनिवार्यत: बौद्धिक क्षेत्र से संबंध रखती है। बौद्धिक प्रक्रियाओं में जुड़ने पर व्यक्ति सक्रिय और सृजनात्मक रूप से यथार्थ की पुनर्व्याख्या शुरू करता है और अपनी स्वयं की दृष्टि विकसित करता है। सृजनात्मकता पुनर्व्याख्या और अपनी दृष्टि के विकास की इस स्वतंत्रता से विहीन होते ही बौद्धिक अभ्यास अपनी जीवंतता खो देता है और यह सीखने वाले के लिए एक यंत्रणा बोझ बन जाता है। तब वे इससे जी चुराते हैं। एक अधिनायकवादी समाज में तो बौद्धिक सृजनात्मकता को दबाया जा सकता है और फिर भी नारेबद्ध मूल्यों तथा मताग्रहण व घिसी-पिटी सूचनाओं की जुगाली का बढ़िया अभ्यास करवाया जा सकता है लेकिन एक जनतांत्रिक समाज में इतने बड़े पैमाने पर इतना दबाव इस्तेमाल नहीं किया जा सकता, जितने दबाव की प्राथमिक शिक्षा को प्रभावित करने के लिए जरूरत है। ऐसी स्थिति में, विश्लेषण के उपकरणों, माध्यमों और संसाधनों को ही प्रच्छन्न तरीके से नियंत्रित किया जाता है। परिणामत: शिक्षक और छात्र दोनों ही शिक्षा-प्रक्रिया में अपनी रुचि खो

देते हैं और ऊबते रहते हैं। अभिभावक के लिए उनके बच्चों की शिक्षा मात्र नौकरी पाने का टिकट बन जाती है। जबकि शिक्षक के लिए पढ़ाना आजीविका कमाने का साधन भर रह जाता है। इस प्रकार बच्चे स्कूल जाने के लिए बाध्य किये जाते हैं और शिक्षक अपने निहित स्वार्थों क पूर्ति के लिए हाजिरी-रजिस्टर भरते रहते हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षा जिंदगी में वांछित हैसियत हासिल करने के लिए एक विराट प्रश्नोत्तरी बन गई है जिसका कोई गहरा अर्थ अथवा महत्व नहीं रह गया। मेरे मत में, शिक्षकोंकी व्यावसायिक क्षमताओं के प्रमुख कारणों में से एक कारण यह है कि जिसने पूर्व उल्लेखित पारस्परिक संबंधों का भी क्षरण कर दिया है।

मैंने यह सुझाने की कोशिश की है कि शिक्षा के प्रति हमारे नजरिये ने कुछ गंभीर समस्याओं के निराकरण के लिए हमें इस नजरिये का परीक्षण करना होगा। मैं यह दावा नहीं कर रहा है कि केवल शिक्षा के प्रति नजरिये में बदलाव से उन सारी समस्याओं से निजात मिल जायेगी। मेरा जोर इस बात पर है हमारे दूसरे प्रयासों की सफलता के लिए हमें शिक्षा के नजरिये के पुनर्परीक्षण द्वारा अनिवार्यत: जमीन तैयार करनी होगी। दूसरे शब्दों में यह एक अनिवार्य शर्त है कि लेकिन सिर्फ यही पर्याप्त नहीं । अन्य दूसरे प्रयासों की भी आवश्यकता है।

तो फिर वैकल्पिक रूप से शिक्षा को हम मानवीय विचार और कर्म के क्षेत्र में बच्चे के प्रवर्तन के रूप में समझ सकते हैं। तब शिक्षा का उद्देश्य बच्चे को किसी पूर्व निर्धारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में खपने के लिए तैयार करना नहीं हो सकता बल्कि धीरे-धीरे उसमें ऐसी दृष्टि का विकास करना होगा जिससे वह मौजूदा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को आलोचनात्मक नजरिये से समझ सके और यदि जरूरी हो तो इसे बदलने के लिए सक्रिय हो सके। शिक्षा की इस दृष्टि के लिए स्वतंत्रता और आलोचनात्मक चिंतन अनिवार्य होंगे। इस तरह अब जोर नारेबद्ध मूल्यों को थोपने के स्थान पर तार्किक निर्णय क्षमताओं के ऊपर होगा। मताग्रहपूर्ण सूचनाओं को निगलने की जगह ज्ञान के निर्माणक प्रक्रियाएं और सूचना अर्जित करने की सामर्थ्य ज्यादा महत्वपूर्ण हो जायेगी। ये सारे परिवर्तन शिक्षक को सौंपे गये कार्यभार का चरित्र ही बदल देंगे। शिक्षक का कार्य बच्चों को निर्धारित चरणबद्ध क्रम के अनुसार परीक्षा दिलाने की तैयारी कराना मात्र नहीं रह जायेगा। न ही ये सब ऐसा रूपान्तरण होगा जिसे आजकल दक्षता आधारित शिक्षण कहा जाता है। यह तथाकथित दक्षता आधारित शिक्षण जिस रूप में आज है, यह उसी पुराने लक्ष्य को और अधिक विकसित औजारों से हासिल करने का तरीका भर है। यह भी बच्चे को पूर्व-निर्धारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के खांचे में ढालने का काम करता है और प्रक्रिया में शिक्षक और छात्र को और अधिक विस्तृत निर्देशों के जाल में फांस देता है।

असफलता के बीज इस योजना में ही अन्तर्निहित हैं। शिक्षा अनिवार्यत: बौद्धिक क्षेत्र से संबंध रखती है। बौद्धिक प्रक्रियाओं में जुड़ने पर व्यक्ति सक्रिय और सृजनात्मक रूप से यथार्थ की पुनर्व्याख्या शुरू करता है और अपनी स्वयं की दृष्टि विकसित करता है। सृजनात्मकता पुनर्व्याख्या और अपनी दृष्टि के विकास की इस स्वतंत्रता से विहीन होते ही बौद्धिक अभ्यास अपनी जीवंतता खो देता है और यह सीखने वाले के लिए एक यंत्रणा बोझ बन जाता है।

ऊपर सुझाये गये शिक्षा दर्शन को अपनाने से शिक्षक का कार्य बच्चे के दिमाग को अवलोकन, खोजऔर दुनियां के बारे में समझ विकसित करने की दिशा में सक्रियता से सन्नद्ध करना है इसके लिए बच्चे की विकसित होती समझ और बाह्य-दुनिया के मध्य एक गतिशील पारस्परिक संबंध बनाने और उसे कायम रखने की आवश्यकता होती है। बच्चे के लियें चारों ओर फैली वैश्विक अव्यवस्था पर ज्ञान की व्यवस्था स्थापित करने की सतत् मुहिम बन जाती है। इस प्रकार शिक्षा दर्शन में परिवर्तन सीखने के नजरिये में परिवर्तन का कारक बन जाता है जो आगे चलकर विद्यालयी विषयों को दिये जाने वाले महत्व में फेरबदल करता है। उदाहरण के लिए भाषा सीखने में वर्णमाला में कितने अक्षर सीखे, कितने शब्द सीखे, व्याकरण के कितने नियम सीखे, और बच्चे के लिए इन्हें याद रखना तीसरी प्राथमिकता बन जाती है। भाषा के उपयोग से अपने खुद के अनुभवों को संयोजित कर अभिव्यक्त करना और दूसरों द्वारा व्यक्त विचारों को समझना केन्द्रीय प्राथमिकता हो जाती है। गणित में बेशक, गणना करने की क्षमता महत्व रखती है। किंतु

अमूर्त तार्किक चिंतन के लिए पृष्ठभूमि की तैयारी और बुनियादी गणितीय अवधारणाओं की समझ ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाती है। विज्ञान में भौतिक जगत के बारे में जानकारी और स्वास्थ्य विज्ञान उपयोगी रहते हैं लेकिन तार्किक छानबीन का दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति की सर्वांगिण समझ ज्यादा अहम् सरोकार रखती हो जाते हैं।

एक बार यदि हम सीखने के लिए कंठस्थ करने और चयनित मूल्यों के मतारोपण के तरीके को अपनाना तय कर लेते हैं तो उपयुक्त पाठ्यक्रम, पद्धति और सामग्री की समस्या उतनी ही आसान हो जाती है। प्रत्येक के लिए आखिरी पूर्णविराम सहित एक समान और विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार करना संभव हो जाता है। पाठ्यपुस्तकों का एक मेल खाता सैट और ऐसी शिक्षण पद्धति जो वैयक्तिक विशिष्टताओं की उपेक्षा करती हो, तैयार की जा सकती है। और ये पाठ्यपुस्तकें पाठ्यक्रम के पूर्णतया अनुरूप भी होंगी। यहां विषयवस्तु की क्रमिकता, सीखने की गति और विषयवस्तु के प्रस्तुतिकरण से संबंधित लगभग सभी निर्णय शिक्षक को पहले से दिये जा सकते हैं और शिक्षक सभी बच्चों पर इन निर्णयों को शिक्षण के सिद्धांत मानते हुए समान रूप से आरोपित कर सकता है। इस प्रकार की शिक्षा विभिन्न कारणों से एक जनतांत्रिक समाज के लिए अनुपयुक्त है। यह दीर्घकाल में शिक्षक की पहल ओर प्रतिबद्धिता को नष्ट कर देती है जैसा कि हमने इस पर्चे में पहले उल्लेख किया है।

पर जब हम समझते हुए सीखने को स्वीकार करते हैं जिससे स्वतंत्र चिंतन और निर्णय क्षमता विकसित और प्रोत्साहित होती है तो हमें कुछ दूरी समस्याओं से रुबरु होना पड़ता है। हमारा यह चुनाव हमें सीधे सीखने की पूर्व उल्लेखित गतिशील प्रक्रिया की ओर ले जाता है। यहां हमें बच्चो क मौजूदा समण और कौशलों को समस्त सीखने-सिखाने का आधार बनाना पड़ता है। रटने के विपरीत समझते हुए सीखना और मतारोपण की जगह स्वतंत्र निर्णय लेने को प्रोत्साहन बच्चों की असहमति को चुप कराकर दबाने की अनुमति नहीं देता, फिर चाहे वह असहमति ज्ञान के क्षेत्र में हो, नैतिक क्षेत्र में हो या बच्चे के स्वभावगत कारणों से हो। परिणामत: हमें ऐसा शिक्षण विज्ञान, पाठ्यक्रम और सीखने-सिखाने की सामग्री का विकास करना होगा जिसमें विभिन्न प्रकार की वैयक्तिक भिन्नताओं के लिए स्थान हो। सीखने की प्रक्रिया एक ही दिशा वाली रेखीय प्रक्रिया नहीं रह जाती और बाल-केन्द्रिकता के पक्षधर लोगों की प्रिय सर्पिल बढ़ोत्तरी सहित समस्त नियमित ज्यामितीय आकृति वाले रूपकों को चुनौती देती है । पाठ्यक्रम यहां भी अत्यंत महत्वपूर्ण होता है लेकिन अब यह एक ऐसा दस्तावेज होता है जो शिक्षक के लिए सामान्य निर्देशों और अवधारणात्मक मानचित्रों के साथ मानवीय समझ के विकास की प्रक्रिया प्रस्तुत करता है और जिसमें मार्गों की बहुलता संभव है। सीखने-सिखाने की सामग्री अब भी अनिवार्य होगी लेकिन यह नीरस तरीके से क्रमबद्ध नहीं होगी और न ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानी जायेगी।

शिक्षण-पद्धति ऐसी होगी जिसमें शिक्षक को पढ़ाते वक्त दर्जनों निर्णय तात्कालिक परिस्थितियों के आधार पर लेने होंगेऔर ये निर्णय किसी तैयारशुदा निर्देशिका के आधार पर नहीं स्व-विवेक के आधार पर ही लिये जा सकेंगे।

बच्चों को पर्याप्त मात्रा में स्वतंत्रता प्रदान करनी होगी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शिक्षा के प्रति नजरिये में इस परिवर्तन को गंभीरता से लिया जाता है तो :

- बौद्धिक सृजनात्मकता के लिए संभावनाएं खुलती हैं।
- अनेक चुनौतियां सामने आती हैं।
- अधिक स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की मांग उठती है।
- वैयक्तिक रुचियों के लिए गुंजाइश देनी होती है।
- वैयक्ति विभन्नताओं को सम्मान के साथ स्वीकार करना पड़ता हे।
- शिक्षक और बच्चे दोनों के लिए शिक्षा के समूचे उपक्रम को जीवन-संबंद्ध बनाने के लिए अवसर उपल्बध कराने होते हैं

हालांकि यह अजीब लग सकता है लेकिन ये सब चीजें विद्यालय के सुस्त और ऊबाऊ माहौल में बौद्धिक जींवंतता ला देंगी। इससे शिक्षक को यह महसूस होगा कि वह एक अहम और महत्वपूर्ण गतिविधि को अंजाम दे रहा है। इसमें व्यावसायिक प्रतिबद्धिता ओर गरिमा मेंइजाफा होना निश्चित हैओर ब वह अपनीव्यावसायिक क्षमताओं में वृद्धि करने में रुचि को कायम रख सकेगा। बहुत से लोगो को ये सब बिल्कुल अविश्वसनीय लग सकता है लेकिन ऐसा इसलिए हुआ है क्योंकि जागृत बोद्धिक रूची की शक्ति को हम बहुत कम करके आंकने के अभ्यस्त हो गये है।

लेकिन विद्यालय के माहौल और शिक्षक के सोच में यह

परिवर्तन तभी संभव होसकेगा जब कुछ अपरिहार्य शर्तें पूरी कर दी जायें। इस समय मुझे ऐसी चार बातें जरूरी लग रही हैं । पहली, इस समय शिक्षकों को यह भरोसा नहीं है कि विद्यालय प्रशासन वास्तव में शिक्षा की गुणवत्ता के सुधार में दिलचस्पी रखता है और उनका यह अविश्वास वाजिब है। ऐसी स्थिति में विद्यालय, प्रशासन को शिक्षकों के लिए यह विश्वास दिलाना होगा कि इस बार वह गंभीर है और शिक्षकों को इसके लिए जरूरी स्वतंत्रता प्रदान करने की तैयार भी है । दूसरे, पर्याप्त संसाधन मुहैया करवाने होंगे। तीसरे, शिक्षकों को इस कार्यभार के लिए तैयारी के अवसर देने होंगे । चौथे, शिक्षा के बारे में अपरिवर्तित नजरिये और सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं का एक अच्छा आधार पत्र तैयार करना होगा, जो शिक्षकों को इसे आगे विकसित करने की प्रकिया से जोड़ सके। आरंभिक तैयारी के साथ-साथ अकादमिक सहयोग तंत्र की कोशिशें शिक्षकों की सक्रिय भागीदारी से जारी रखी जा सकती हैं।◆

शिक्षक और उनका प्रशिक्षण

आज देश में स्कूलों में पढ़ने वाले अध्यापकों की संख्या लगभग पचास लाख है। इनमें से तीस लाख प्राथमिक स्तर पर कक्षा एक से आठ तक अध्यापन करते हैं। अधिकांश स्थितियों में माता-पिता और समुदाय के लोग स्कूलों और अध्यापकों से संतुष्ट नहीं पाए जाते हैं। बहुसंख्यक प्राथमिक और प्रारंभिक शालाएं (जो सरकार या अनुदान प्राप्त संस्थानों द्वारा चलाई जाती हैं) अपनी विश्वसनीयता लगातार खोती जा रही है। लोग निजी स्कूलों की ओर दौड़ रहे हैं।

● ● ●

इस समय देश में लगभग 2200 शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान हैं जिनमें से लगभग 1300 प्राथमिक शिक्षकों को प्रशिक्षित करते हैं। पिछले दस वर्षों में भारत सरकार ने इनमें से 430 संस्थानों को जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थान के रूप में परिवर्तन करने के लिए राज्य सरकारों को आर्थिक सहायत दी है। आशा यह थी कि यह संस्थान हर जिले में शोध केन्द्र के रूप में कार्य करेंगे और प्राथमिक शिक्षा से जुड़े सभी मसलों में अध्यापकों की सहायता करेंगें। और उनका उच्च स्तरीय प्रशिक्षण करते रहेंगे। इस सारे प्रयास में कितनी सफलता मिली है यह एक विचारणीय प्रश्न बनता जा रहा है। पर यह सभी मानते हैं कि यह सही दिशा में उठाया गया एक सराहनीय प्रयत्न रहा है। इसके साथ एक अन्य प्रश्न उठता है उन बचे हुए 850 प्रशिक्षण संस्थानों का जो मान्यता प्राप्त तो हैं पर जिनके पास संसाधनों और साधनों की कमी है।

● ● ●

अध्यापकों के लिए लगातार अपनी क्षमताओं का विश्लेषण और अनुकूलन करते रहना विशेष रूप से जरूरी होता है। उनके उचित प्रशिक्षण और पुन: प्रशिक्षण का प्रबंध आवश्यक है। इनमें कमी होने पर देश की भावी पीढ़ी की क्षमताएं पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो सकती।

● ● ●

पचास लाख अध्यापकों का यह वर्ग देश के विकास में और भावी पीढ़ी के निर्माण में अकथनीय योगदान की क्षमता रखता है। इस पर विश्वास करना, इसे विश्वास में लेना और इन्हें अपने कार्य करने की स्वतंत्रता देना देश का उत्तरदायित्व है। इसके निर्वाह में पिछले पांच दशकों में शिथिलता रही है। क्या इस वर्ष देश ऐसा निर्णय ले सकेगा कि यह स्थिति बदल सके ?

जगमोहन सिंह

'जनसत्ता' 6 मार्च' 98